

दवा उद्योग में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के खतरे

एस. श्रीनिवासन

भारत में दवाइयों की उपलब्धता व पहुंच को लेकर एक प्रमुख मुद्दा दवा उद्योग में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ.डी.आई.) का है। सवाल यह पूछा जाना चाहिए कि हमें दवा उद्योग में एफ.डी.आई. की ज़रूरत ही क्या है। हमारा काम उसके बगैर भी बढ़िया ही चल रहा है।

जब व जहां हमें निवेश की ज़रूरत हो, तब फैसलों का आधार यह होना चाहिए कि भारत में बीमारियों के पैटर्न के चलते हमें किस तरह की टेक्नॉलॉजी और दवाइयों की ज़रूरत है। यह चुनाव करने का अधिकार हमारे हाथों में होना चाहिए कि हम यह निवेश कहां से हासिल करें। ऐसा होने पर हम ऐसी टेक्नॉलॉजी से बच पाएंगे जो जांची-परखी नहीं है या देश की ज़रूरतों के लिहाज़ से प्रासंगिक नहीं है।

सौ फीसदी एफ.डी.आई. की बात तो दूर, यदि स्थानीय दवा कंपनियों में इतने शेयर की इज़ाजत भी दी गई, जिसके दम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियां उन पर नियंत्रण स्थापित कर सकें, तो इसका मतलब यह होगा कि वह कंपनी अब भारतीय कंपनी नहीं रहेगी। सवाल है कि इससे क्या फर्क पड़ता है। जवाब यह है कि विदेशी दवा कंपनियां स्थानीय ज़रूरतों और देश की सरकार के प्रति उत्तनी जवाबदेह नहीं होंगी। उनके पास उपलब्ध संसाधनों के बल पर वे हमारी सरकार को प्रभावित करने की स्थिति में होंगी और पश्चिमी सरकारों से दबाव डलवाने में भी समर्थ होंगी।

पिछले एक दशक में भारतीय दवा कंपनियां कम कीमत की जिनेरिक दवाइयों (यानी वे दवाइयां जो पेटेंट से मुक्त हैं) का प्रमुख स्रोत बन गई हैं। उदाहरण के लिए, युनिसेफ 60 प्रतिशत से ज़्यादा अंतर्राष्ट्रीय दवा खरीद भारत से करता है। इसके अलावा, अफ्रीका के लिए एड्स वायरस की दवाइयों का सबसे बड़ा सप्लायर भी भारत ही है। तो अच्छी रणनीतिक पकड़ वाली कोई 'अच्छी' बहुराष्ट्रीय दवा कंपनी क्या करेगी? वह युद्ध को

उस अखाड़े में ले जाएगी जहां वह लाभ की स्थिति में है। वह सख्त बौद्धिक संपत्ति कानूनों की मांग करेगी, और भारतीय दवा पेटेंट कानून के सेक्शन 3-डी जैसे असुविधाजनक प्रावधानों का विरोध करेगी। सेक्शन 3-डी के ज़रिए उटपटांग पेटेन्ट्स और सदाबहारीकरण को रोकने के लिए पेटेन्ट कानून 1970 के सेक्शन 3 में ऐसे आविष्कारों को परिभाषित किया गया है जो पेटेन्ट-योग्य नहीं हैं। 2005 में सेक्शन 3-डी को खास तौर से संशोधित किया गया था और नवीन सेक्शन 3-डी में निम्नलिखित को पेटेन्ट-अयोग्य बताया गया है: "किसी ज्ञात पदार्थ के मात्र नए रूप की खोज, जो उस पदार्थ की ज्ञात प्रभाविता में कोई वृद्धि नहीं करता या किसी ज्ञात पदार्थ के मात्र नए उपयोग की खोज या मात्र किसी ज्ञात प्रक्रिया, मशीन या उपकरण का उपयोग, जब तक कि ऐसी प्रक्रिया के उपयोग का परिणाम किसी नए पदार्थ के रूप में सामने नहीं आता या कम से कम एक नया अभिकारक उपयोग नहीं होता।" आगे इसकी व्याख्या की गई है: "ज्ञात पदार्थों के व्युत्पन्न रूप एक ही पदार्थ माने जाएंगे, जब तक कि वे प्रभाविता में उल्लेखनीय अंतर पैदा नहीं करते।" तो बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस सेक्शन का विरोध करेंगी ताकि मौजूदा दवाइयों में छोटे-मोटे परिवर्तन करके उनका पेटेंट चिरस्थायी (एव्हरग्रीन) बना रहे।

वे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर ऐसे उपायों की भी वकालत करेगी जो भारत से दवा निर्यात को मुश्किल बना दें। इनमें सीमा सम्बंधी मुद्दे शामिल होंगे। जैसे *नकल-विरोधी व्यापार समझौता* (एसीटीए) जिसके तहत परिवहन के दौरान माल की ज़ब्ती को वैध ठहराया जाता है। कोशिश यह होगी कि भारत में निर्मित जिनेरिक दवाइयों को 'नकली दवाइयां' घोषित करवाया जाए। और तो और, भारत के अंदर भी दवाइयों पर मूल्य नियंत्रण का विरोध किया जाएगा। साथ ही साथ ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस बात का प्रचार करेंगी कि भारतीय दवा उद्योग का भला

तभी हो सकता है जब 100 प्रतिशत एफ.डी.आई. की अनुमति दे दी जाए।

नोवार्टिस एक बहुराष्ट्रीय कंपनी है जो भारतीय पेटेंट कानून के सेक्शन 3(डी) के खिलाफ अभियान चला रही है। वह अपनी कैंसर-रोधी दवा ग्लिवेक (इमेटिनिब मिसायलेट का ब्रांड नाम) के लिए उत्पाद पेटेंट हासिल करने के प्रयास में जुटी हुई है। इसके लिए उसकी कोशिश है कि जिनेरिक दवाइयों की चुनौती को ध्वस्त किया जाए। सबसे अहम बात है कि नोवार्टिस द्वारा निर्मित इस महत्वपूर्ण कैंसर-रोधी दवा की एक महीने की खुराक की कीमत पूरे 1.3 लाख रुपए है जबकि स्थानीय जिनेरिक संस्करण की लागत मात्र 6000-10,000 रुपए प्रति माह आती है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने एक रास्ता और भी है - यदि आप कम कीमत पर दवा नहीं दे सकते, तो प्रतिस्पर्धी को खरीद लो। सौ फीसदी एफ.डी.आई. का सबसे बड़ा खतरा यही है। इसके ज़रिए भारतीय दवा कंपनियों की खरीद का रास्ता खुल जाएगा। प्रतिस्पर्धा को खरीदकर उसे समाप्त करने का तरीका है यह। और, प्रतिस्पर्धी खुशी-खुशी स्वयं को बेचने को तत्पर हैं क्योंकि कहा जा रहा है कि यही 'सही समय' है।

अब ज़रा इस नज़ारे की कल्पना कीजिए: कोई बहुराष्ट्रीय कंपनी एक भारतीय कंपनी को खरीद लेती है क्योंकि यहां उत्पादन की लागत कम है। उसके पास तकनीकी लोगों की वह फौज है जिसका खूब ढिंढोरा पीटा जाता है। इस प्रवृत्ति का असर यह होगा कि अंततः मुट्ठी भर बहुराष्ट्रीय कंपनियां देश के 50 प्रतिशत से ज़्यादा दवा बाज़ार पर काबिज़ हो जाएंगी। हाल में हुए टेकओवर्स के परिणामस्वरूप यह आंकड़ा 30 प्रतिशत तो हो ही चुका है।

अब ज़रा कोशिश कीजिए कि उन पर मूल्य नियंत्रण लागू करें या 'सिर्फ-ज़रूरी-दवाइयां' जैसी कोई नीति लागू करें। वे कहेंगी कि वे इन परिस्थितियों में काम नहीं कर सकतीं। सरकार घबराकर सख्त मूल्य नियंत्रण में थोड़ी ढील दे देगी। सरकार चाहेगी कि अनिवार्य लायसेंस

प्रावधान को लागू करे मगर उसे क्रियावित करने वाला कोई न होगा क्योंकि सारी या अधिकांश भारतीय जिनेरिक कंपनियां तो पहले ही बिच चुकी होंगी। (गौरतलब है कि यदि कोई दवा कंपनी अपनी पेटेंटशुदा दवा का उत्पादन न करे, तो सरकार अनिवार्य लायसेंस प्रावधान के तहत किसी अन्य कंपनी को लायसेंस दे सकती है।)

इस तरह के वर्चस्व, या यों कहें कि वर्चस्व के दुरुपयोग के चलते, नई कंपनियों के प्रवेश के मार्ग में ज़्यादा से ज़्यादा कठिन अवरोध खड़े किए जाएंगे - तब कोई युवा उद्यमी दवा उद्योग शुरू करने की तब तक नहीं सोचेगा/सोचेगी जब तक कि उसकी जेब भारी-भरकम न हों। धीरे-धीरे शायद एकाध दर्जन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एकाधिकार स्थापित हो जाएगा जिन्हें स्थानीय ज़रूरतों की पूर्ति की कोई परवाह न होगी। न ही उन पर कोई दबाव होगा कि वे सरकार के निर्देशों का पालन करें।

यह नाटकीय वृत्तांत कम से कम इतना तो दर्शाता ही है कि भारतीय जिनेरिक कंपनियों की बहुलता को बरकरार रखना अति आवश्यक है। इसके साथ ही मूल्य नियंत्रण, अनिवार्य लायसेंस के प्रावधानों और ट्रिप्स में उपलब्ध गुंजाइशों का अक्लमंदी से उपयोग करने की भी ज़रूरत होगी।

बहरहाल, योजना आयोग द्वारा गठित मारिया समिति की रिपोर्ट हमें बड़ी दवा कंपनियों की भलमनसाहत का यकीन दिलाना चाहती है। दरअसल, दवा उद्योग से यह उम्मीद करना (जैसी कि मारिया समिति करती है) कि वे सरकार की इस अपील का सम्मान करेंगी कि वे 'ज़िम्मेदारी से व्यवहार करें', या मूल्य नियंत्रण का पालन करेंगी, या यह वचन देंगी कि जब भी सरकार अनिवार्य लायसेंस के तहत उनसे किसी दवा के उत्पादन की मांग करेगी, तब वे बिना हिचक इस मांग को पूरा करेंगी, या वे जनहित में सस्ती दरों पर दवाइयां उपलब्ध कराएंगी, या वे ऐसे आव्हानों को अनसुना नहीं करेंगी कि उन्हें ज़िम्मेदारीपूर्वक व्यापार का अनुकरणीय उदाहरण बनना

चाहिए, ये सब सिर्फ मासूमियत के लक्षण हैं। या फिर मारिया समिति ने दवा उद्योग का इतिहास ठीक से नहीं पढ़ा है। ये सारी बड़ी-बड़ी, भली बातें सिर्फ इसलिए कही गई हैं ताकि “भारत पर यह आरोप न लगे कि वह सुधार के मार्ग से हट गया है या उसने विदेशी निवेश को निरुत्साहित किया है।”

मारिया समिति ने भारत के प्रतिस्पर्धा आयोग में काफी विश्वास ज़ाहिर किया है। मगर इस विश्वास का कोई आधार नहीं है। आप इस बात की क्या व्याख्या करेंगे कि एक जैसी गुणवत्ता वाली एक ही दवाई हमारे देश में कई अलग-अलग नामों से बहुत अलग-अलग कीमतों पर बनाई व बेची जाती है? और तो और, कई दवाइयों की कीमतें उनके लागत मूल्य से 10-20 गुना ज़्यादा रखी जाती हैं। दवाइयों की अत्यधिक कीमतें और दवा कंपनियों द्वारा अपनाए जाने वाले विपणन के अनैतिक तौर-तरीके प्रतिस्पर्धा की असफलता और वर्चस्व के दुरुपयोग के उदाहरण नहीं तो और क्या हैं?

दरअसल, ये बातें प्रतिस्पर्धा आयोग का प्रमुख सरोकार नहीं हैं क्योंकि आयोग ने प्रतिस्पर्धा की संकीर्ण परिभाषा अपनाई हुई है। वास्तव में, आम उपभोक्ता दवा कंपनियों के बरक्स जिन समस्याओं का सामना करता है,

उनके लिहाज़ से प्रतिस्पर्धा आयोग को एक नाकारा संस्था माना जाने लगा है।

अलबत्ता, प्रधानमंत्री ने राजनैतिक यथार्थ के प्रति कुछ जागरूकता दर्शाई है। अब ‘ब्राउन’ व ‘ग्रीन’ परियोजनाओं के बीच कुछ भेद किया जाएगा। मगर ग्रीन के भेष में ब्राउन एफ.डी.आई. आगे चलकर एक समस्या बनने जा रहा है। ब्राउन परियोजनाएं - यानी पारंपरिक विलय, अर्जन वगैरह - प्रतिस्पर्धा आयोग के समक्ष जाएंगे। दूसरी ओर, ग्रीन परियोजनाओं, जिनके बारे में माना जा रहा है कि वे नई टेक्नॉलॉजी या एकदम नए उद्यम लेकर आएंगी, को ऑटोमेटिक मंजूरी मिल जाएगी।

सवाल यह है कि क्या प्रतिस्पर्धा आयोग की मध्यस्थता से घरेलू दवा कंपनियों का टेकओव्हर रुक पाएगा? या क्या ऐसा होगा कि प्रतिस्पर्धा आयोग विलय व अर्जन की बारीकियों में जाएगा और कुछ टेकओव्हर्स को वैध और कुछ को अवैध घोषित करता रहेगा? मगर इस सबकी ज़रूरत ही क्या है? क्यों न ऐसे टेकओव्हर्स पर राष्ट्रहित में रोक लगा दी जाए क्योंकि भारत का जिनेरिक दवा उद्योग देश के लोगों तथा विकासशील देशों के लोगों के स्वास्थ्य की बुनियाद है? और यही लोग तो वास्तविक हितधारी हैं। (स्रोत फीचर्स)

अगले अंक में

स्रोत मार्च 2012

अंक 278

- कॉलेजों में डिसेक्शन पर रोक
- ब्लू ब्रेन प्रोजेक्ट: मानव मस्तिष्क की मॉडलिंग
- इंडियन टीचिंग सर्विसेज क्यों नहीं?
- बिजली का संकट
- कितनी ऊर्जा उत्पन्न करता है हमारा सूर्य?

